Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

११
(धर्मानुप्रेक्षा)

(गाहा)

एयारस-दसभेयं, धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।
सागारणगाराणं, उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ॥६८॥

एकादशदशभेदो, धर्मो सम्यक्त्वपूर्वको भणितः।
सागारानगारयोः, उत्तमसुखसम्प्रयुक्तैः ॥६८॥

अर्थ—उत्तम सुख में लीन जिनदेव ने गृहस्थ-धर्म के ग्यारह भेद और मुनिधर्म के दश भेद कहे हैं। यह धर्म सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है।

भावार्थ—वास्तव में गृहस्थ और मुनि के धर्म में अन्तर नहीं है। क्योंकि आत्मा को जाने बिना किसी को भी तत्त्वज्ञान नहीं होता। आत्मा को जानने में अनुभव ही प्रधान है। पर के साथ एकत्व का निश्चय होने से मूढ अज्ञानी मानव को 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान नहीं होता। इसलिए गधे के सींग के समान उसके तत्त्वश्रद्धान भी नहीं होता। यथार्थ में तत्त्वार्थश्रद्धान में स्वानुभव ही प्रधान है। निज शुद्धात्मानुभूति के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। बड़े 'नयचक्र' में "णादाणुभूइ सम्मं" ज्ञानानुभूति को सम्यग्दर्शन कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

आत्मानुभूतिरितिशुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्धवा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिःप्रकम्प-
मेकोऽस्तु नित्यमवबोध घनः समन्तात्॥—समयसार कलश, श्लोक १३

मोक्ष का मार्ग शुद्ध स्वरूप का अनुभव है। गृहस्थ और मुनि दोनों के लिए यह समान रूप से उपादेय है। अन्तर केवल यही है कि मुनि के लिए शुद्धोपयोग मुख्य है और गृहस्थ के लिए गौण है। शुभोपयोग गृहस्थ के लिए मुख्य है और मुनि के लिए गौण है। मुनि पूर्ण रूप से व्रतों का पालन करते हैं और गृहस्थ एकदेश रूप में पालते हैं। गृहस्थ के भी वे ही दश धर्म हैं, जिनका वर्णन मुख्य रूप से मुनि के लिए किया जाता है। गृहस्थ धर्म के ग्यारह भेद वास्तव में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ कही गई हैं। प्रतिमा का लक्षण है—

संयम अंश जग्यो जहाँ, भोग अरुचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा को भयो, प्रतिमा ताको नाम।

धर्म अनुभूति पूर्ण है। वह निज शुद्धात्मा की अनुभूति से ही पहचान में आता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह, क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम को धर्म कहा है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(उग्गाहा)

दंसण - वय - सामाइय-पोसह-सच्चित्त-रायभत्ते य।
बम्हारंभ-परिग्गह-अणुमण्णमुद्दिट्ठ[1]—देसविरदेदे॥६९॥

दर्शनव्रतसामायिकप्रोषधसचित्तरात्रिभक्ताश्च।
ब्रह्मारम्भपरिग्रहानुमतोद्दिष्टाः देशविरतस्यैते॥६९॥

अर्थ—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभोजन-त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग तथा उद्दिष्टत्याग—ये ग्यारह एकदेश व्रत का पालन करने वाले श्रावकधर्म के भेद हैं।

भावार्थ—श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ कही गई हैं। वास्तव में सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्य की शक्ति प्राप्त होते ही संयम का अंश प्रकट हुए बिना नहीं रहता। बाहर में जब इसे नियम या प्रतिज्ञा में बाँध लिया जाता है, तो प्रतिमा कहा जाता है। साधारण बोली में श्रावक के ये ग्यारह दर्जे (Class) हैं जो सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ होते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना श्रावक का कोई दर्जा शुरु नहीं होता। यह सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है कि उसके प्रभाव से सदा काल विषय-कषायों में आसक्त रहने वाला जीव मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनादि ३३ भंगों में अतिचार सहित सप्त व्यसनों का त्याग कर देता है और निर्दोष अष्ट मूल गुणों का पालन करता है। इसलिये प्रथम दर्शन प्रतिमा है। दूसरी व्रत प्रतिमा का धारक ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत, इस प्रकार बारह व्रतों को ग्रहण करता है। सामायिक प्रतिमा में नियम से प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल तीनों वक्त सामायिक करते हैं। चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा में अष्टमी, चतुर्दशी तथा पर्व की तिथियों में पोसा सहित उपवास करते हैं। सचित्तत्याग प्रतिमा में कच्चे जल तथा हरित काय की विराधना का त्याग करते हैं। रात्रिभुक्ति त्याग में रात में भोजन तथा रात के समय में बने हुए भोजन के साथ दिन में कुशील का भी त्याग किया जाता है। सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा में सब प्रकार की चेतन-अचेतन पुरुष-स्त्रियों में मैथुन का त्याग कर दिया जाता है। आरम्भ त्याग प्रतिमा में घर-गृहस्थी के सभी काम करना छोड़ देते हैं तथा अपने बाहरी घर में रहना छोड़ देते हैं। फिर, दसवीं प्रतिमा में लौकिक कार्यों में कोई अनुमति तथा विमर्श (सलाह) नहीं देते। ग्यारहवीं प्रतिमा में अनुद्दिष्ट आहार लेते हैं। अपने उद्देश्य से बनाये हुए किसी भी प्रकार का भोजन नहीं लेते। इसके दो भेद हैं—क्षुल्लक और ऐलक। इन सभी की गिनती श्रावकों में की गई है।

---

1. 'अणुमणमुद्दिट्ठ' प्रकाशित प्रतियाँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

उत्तमखम-मद्दवज्जव[1]-सच्च[2]-सउच्चं[3] च संजमं चेव।
तव-चाग-मकिंचण्हं[4] बम्हा[5] इदि दसविहं होदि॥७०॥

उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचं च संयमश्चैव।
तपस्त्याग-आकिंचन्यं ब्रह्मेति दशविधं भवति॥७०॥

अर्थ—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य-ये देश भेद मुनिधर्म के हैं।

भावार्थ—मुनिधर्म के दश प्रकार कहे गये हैं। वास्तव में शुद्धात्मा की साधना ही एकमात्र धर्म है। जिसमें शुद्धोपयोग, समत्व रूप परिणाम रहते हैं तथा जिसकी चर्या वीतराग है; वही आत्मधर्म या मुनिधर्म है। मुनि धर्म की मूर्ति होते हैं। वे रत्नत्रय रूप होते हैं। इसलिये धर्म का वर्णन उनकी मुख्यता से किया जाता है। पं. दौलतरामजी कहते हैं—

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताको सुनिये भवि प्राणी, अपनी अनुभूति पिछानी॥

—छहढाला, ५, १५

यथार्थ में निश्चय रत्नत्रय धर्म सहज, स्वाभाविक रूप से मुनि में ही प्राप्त होता है। इसलिये उनके मुख्य रूप से दो ही कार्य कहे गये हैं—ध्यान और अध्ययन। आत्मध्यान में लीन रहने वाले ही शुद्ध रत्नत्रय का पालन करते हैं और वही एकमात्र मोक्षमार्ग है। अपने शुद्धात्म-स्वरूप के सन्मुख होकर ही समस्त संकल्प-विकल्पों तथा कारक-प्रक्रिया के पार एक समय की पर्याय से अस्पृष्ट जाननहारा अभेद, नित्य, अविशेष, शुद्ध, नियत, अखण्ड, एक, ज्ञानानन्द स्वरूप का अनुभव करता हुआ जानन, जानन . . . . वीतराग स्वभाव में लीन हो जाता है। यही आत्मध्यान रूप परमात्म श्रद्धान, आत्मज्ञान तथा शुद्धात्म स्वरूप में स्थिरता रूप चारित्र, किंवा निश्चय रत्नत्रय कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति॥—समय कलश, १०

आत्मस्वभाव को साधना ही यथार्थ साधना, आराधना है। आराधना के बिना चारित्र नहीं होता।

---

1. 'दम अज्जव' अ प्रति। 'दम अज्जय' ब प्रति।
2. 'सउच' ब प्रति। 'सच्चं' अ प्रति। 3. 'सच्चं' ब प्रति। 'सुच्चं' अ प्रति।
4. 'मकिंचण्ण' अ प्रति। 5. 'बंभं' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

कोहुप्पत्तिणिमित्त[1], बहिरंगं जदि हवेदि संजोगो[2]।
ण कुणदि किंचि वि कोहं, तस्स खमा होदि धम्मो त्ति॥७१॥

क्रोधोत्पत्तिनिमित्तं बहिरंगं यदि भवति संयोगः।
न करोति किंचिदपि क्रोधं तस्य क्षमा भवति धर्म इति॥७१॥

अर्थ—क्रोध की उत्पत्ति का बाहर में संयोग कारण उपस्थित होने पर जो तनिक भी क्रोध नहीं करता, उसके क्षमाधर्म होता है।

भावार्थ—कारण दो प्रकार के कहे गये हैं—अन्तरंग कारण और बहिरंग कारण। अनादि काल से यह जीव विभाव भावों में अपनत्व बुद्धि होने के कारण दुखी है और इस दुर्बुद्धि से समय-समय पर इसके क्रोध, मान, माया, लोभ के भाव उत्पन्न होते रहते हैं। अतः क्रोध के उत्पन्न होने में अनिष्ट या कर्तृत्व बुद्धि ही मूल या अन्तरंग कारण है। बाहर में संयोगवश योग से वैसी सामग्री उपस्थित रहती है या हो जाती है; किन्तु जब यह जीव आत्मा और आस्रव के अन्तर तथा भेद को जान कर अपने ज्ञान स्वभाव का अनुभव करता है, तब क्रोधादि भावों में ज्ञानी की प्रवृत्ति नहीं होती। कहने का अभिप्राय यह है कि अज्ञान भाव से क्रोध होता है, किन्तु आत्मज्ञान होते ही क्षमा धर्म प्रकट हो जाता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध के कारण ही लोगों को आत्मा नहीं रुचता है। किन्तु जिनकी आत्मा में रुचि है, ज्ञान और वैराग्य के सिवाय जिन को कुछ अच्छा नहीं लगता है, जो अपने में ही रहने का सतत अभ्यास करते हैं और जो तत्त्वज्ञान सम्पन्न होते हैं, वास्तव में उनके ही क्षमाधर्म कहा जाता है। क्षमा-स्वभावी आत्मा के आश्रय से क्षमा प्रकट होती है जो शुद्ध भाव रूप है। यह क्षमाधर्म उन मुनियों में प्रकाशित होता है जो समता भाव धारण करते हैं। कहा है—

अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-कांच, निंदन-थुतिकरन।
अर्घावतारन-असिप्रहारन में सदा समता धरन॥

—छहढाला, ६, ६

कहा भी है—

धर्मस्वभाव आप ही जान, आप स्वभाव धर्म सोइ मान।
जब वह धर्म प्रगट तोहि होय, तब परमातम पद लख सोय॥

—भैया भगवतीदास

---

1. 'कोहुप्पत्तिस्स पुणो' प्रकाशित प्रतियाँ।
2. 'संजादं' ब प्रति। 'सक्खादं' प्रकाशित प्रतियाँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

कुल-रूव-जादि-बुद्धिसु, तव-सुदसीलेसु गारवं किंचि।
जो ण वि कुव्वदि समणो, मद्दवधम्मं हवे तस्स॥७२॥

कुलरूपजातिबुद्धिषु, तपः श्रुतशीलेषु गौरवं किंचित्।
यो नैव करोति श्रमणो, मार्दवधर्मो भवति तस्य॥७२॥

अर्थ—जो श्रमण कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत तथा शील का तनिक भी मद नहीं करता, उसके मार्दवधर्म होता है।

भावार्थ—जैनधर्म का एक ही मानक है कि जहाँ मिथ्यात्व है, वहाँ अधर्म है और जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ धर्म है। क्षमा, मार्दव, आदि लक्षणों के द्वारा वस्तु-स्वभाव प्रकाशित होता है। क्षमा आत्मा का स्वभाव है और मान आत्मा का विभाव है। कोई भी भाव बिना आश्रय के नहीं होता। क्षमा स्वभाव के आश्रय से होता है और मान पर के अवलम्बन से होता है। 'यह मेरा है', 'मैं इतना सुन्दर हूँ', 'मेरे बराबर कोई नहीं है', आदि मान के भाव हैं। मान या अहंकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि रूपवान होने पर ही सौन्दर्य का मद हो, बल्कि दो अक्षर पढ़ कर अपने को विद्वान् मान सकता है, हठ पूर्वक उपवास करके अपने को तपस्वी समझ सकता है। वास्तव में जो अपना है, उसका क्या मान? वास्तव में जो अपना नहीं है, उसका मान मिथ्या ही है। इसलिए जब तक अन्तर्मन में मिथ्या भाव रहता है, तब तक धर्म या मार्दवधर्म नहीं हो सकता।

मार्दवधर्म के लिए यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है कि शरीरादि संयोगी परपदार्थों से तथा परभावों से एकत्व बुद्धि तोड़ कर अपने स्वभाव से उपयोग जोड़ें। वास्तव में पर से ममत्व बुद्धि हटते ही स्वत्व का भान होने लगता है। यह आत्मानुभव तथा आत्मज्ञान से ही सम्भव है। अतः परमार्थ में निज आत्मा का अनुभव मार्दवधर्म है। उत्तम तपश्चरण ही जिसका स्वभाव हो, उस मुनि के उत्तम मार्दवधर्म होता है। कहा भी है—

कहा जानि जिय फूले चेतन, तुम तो विधिना वांचे।
सुद्ध सुभाव सहज सुख छोरि जु, इन्द्रिय-सुख-रस रांचे॥

—रूपचन्द

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

मोत्तूण कुडिलभावं, णिम्मलहिदएण[1] चरदि जो समणो।
अज्जवधम्मं तइयो[2], तस्स दु संभवदि णियमेण॥७३॥

मुक्त्वा कुटिलभावं निर्मलहृदयेन चरति यः श्रमणः।
आर्जवधर्मस्तृतीयः तस्य तु सम्भवति नियमेन॥७३॥

अर्थ—जो श्रमण कुटिल भाव को छोड़ कर निर्मल हृदय से आचरण करता है, उसके नियम से तीसरा आर्जवधर्म होता है।

भावार्थ—आत्मा का स्वभाव सरल है। अपने स्वभाव में रहना यही सरलता है। जो भीतर में सरलता से रहता है, वही बाहर में मायाचारी छोड़ कर निष्कपट रह सकता है। धर्म के सभी लक्षणों में आचार्य कुन्दकुन्द यह कहना चाहते हैं कि भीतर और बाहर में समता भाव धर्म है। जो सरलता से रहता है, उसके आर्जव धर्म होता है। यथार्थ में बाहर में सरल होना इसलिए कठिन है कि मन कुछ सोचता है, वाणी से कुछ प्रकट हो जाता है और शरीर कुछ करने लग जाता है। तीनों की एकता होना बहुत कठिन है। क्योंकि हम क्रोध में भर कर कुछ कह बैठते हैं, और जैसा कहते हैं वैसा न तो मानते हैं और न करने के लिए तैयार होते हैं। जैसा वस्तु—स्वरूप है, वैसा ही जानना और उस रूप प्रवृत्ति होना ही सम्यक् मार्ग है। लेकिन बाहर में हम कहते कुछ हैं और मानते कुछ हैं। अतः वस्तु के स्वभाव के अनुसार मानना सम्यक् है। वस्तु को हम अपने अनुसार नहीं बना सकते हैं, पर जिसका जैसा वस्तुतः स्वभाव है, वैसा मानना ही सम्यक् है। दूसरे शब्दों में, आत्मा का जैसा स्वभाव है, उसे वैसा ही मानना और उसमें तन्मय होकर तद्रूप परिणम जाना ही आर्जव धर्म है। इस धर्म के प्रकट होते ही साधु के भावों में से कुटिलता दूर हो जाती है, आत्मा की निर्मलता प्रकाशित हो जाती है और सदाचार में प्रवृत्ति होने लगती है। अतः मन, वचन, काय में भी सरलता होती है। कविवर द्यानतरायजी कहते हैं—

कपट न कीजे कोय, चोरन के पुर ना वसै।
सरल सुभावी होय, ताके घर बहु सम्पदा॥

---

1. 'णिम्मलहियएण' अ, ब प्रति।
2. 'तइया' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

पर — संतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो[1], तस्स दु धम्मो हवे सच्चं॥७४॥

परसन्तापककारणवचनं मुक्त्वा स्वपरहितवचनम्।
यो वदति भिक्षु तुरीयस्तस्य तु धर्मो भवेत् सत्यम्॥७४॥

अर्थ—दूसरों को संताप देने वाले वचनों को छोड़ कर जो भिक्षु अपना और दूसरों का हित करने वाले वचन बोलता है, उसके चौथा सत्यधर्म होता है।

भावार्थ—वस्तु जैसी है, उसे वैसा जानने का नाम सत्य है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान का ज्ञान रूप जानना ही वस्तुतः सत्य है। वास्तव में वस्तु रूप से जिसकी सत्ता है, वह सत्य है। लेकिन वह तीन रूपों में प्रकट होती है; जैसे कि 'पट' नाम के पदार्थ की सत्ता है, उसे 'पट' रूप से जानने वाले ज्ञान की भी सत्ता है और शब्द रूप से 'पट' शब्द की भी सत्ता है। इन तीनों की एकता ही लोक-व्यवहार में सत्य मानी जाती है। अतः जो है, उसे वही जानो और उस पदार्थ के वाचक शब्द से उसे कहो। यही नहीं, सामने वस्त्र है और बगल वाले घड़े की ओर संकेत करे, तो वह असत्य ही है। इसी प्रकार कड़वे या सन्ताप देने वाले वचन बोलना असत्य है। मुनि जिनसूत्र के अनुसार ही बोले। साधु को आगमचक्षु इसीलिये कहा गया है कि वह समय (आगम) के अनुसार देखता, जानता और कहता है। आगम में व्यवहार से दश प्रकार के सत्य का वर्णन किया गया है—नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीत्यसत्य, संवृतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य, और समयसत्य। अतः त्रैकालिक परम सत्य के आश्रय से उत्पन्न श्रद्धान, ज्ञान तथा वीतराग परिणति वाले लोक में हित, मित, प्रिय वचन ही बोलते हैं। अतः उनके ही सत्यधर्म कहा जाता है। कविवर द्यानतरायजी के शब्दों में—

कठिन वचन मत बोल, परनिंदा अरु झूठ तज।
सांच जवाहर खोल, सतवादी जग में सुखी॥

---

1. 'तइया' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

कंखाभावणिवित्तिं, किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।
जो वट्टदि परममुणी, तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं॥७५॥

कांक्षाभावनिवृत्तिं कृत्वा वैराग्यभावनायुक्तः।
यो वर्तते परममुनिस्तस्य तु धर्मो भवेत् शौचम्॥७५॥

अर्थ—आकांक्षा भाव से निवृत्त तथा वैराग्य भाव से सम्पन्न परम मुनि के शौचधर्म होता है।

भावार्थ—आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि भोग भोगने के लिए पाँचों इन्द्रियों और उनके विषयों की उपस्थिति मात्र पर्याप्त नहीं है। बाहर के भोगों को बिना भोगे भी आकांक्षा मात्र से यह तरह-तरह के कर्मों का बन्ध कर लेता है। इसलिए वास्तव में भोग तो कर्म का होता है। वस्तु-व्यवस्था में न्याय का नियम भी यही है कि जो कर्म का कर्ता है, वही उसका भोक्ता है। मूलाचार (गा. ८१) में यही कहा गया है—आकांक्षा और कलुषता से सहित यह जीव काम और भोगों में आसक्त होकर भोगों को नहीं भोगता हुआ भी इच्छा मात्र से कर्म बाँध लेता है। इसीलिए जिन इच्छाओं को यह भोगता है और जिनसे आज तक तृप्ति नहीं हुई है, उन आकांक्षाओं से निवृत्त होना ही सच्चा त्याग है। इस त्याग के बिना सच्चा वैराग्य नहीं होता और ज्ञान-वैराग्य के बिना शौचधर्म प्रकट नहीं होता। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में—

सम्यग्दृष्टिर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः।
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।

अर्थात्—आत्म-श्रद्धानी के नियम से ज्ञान और वैराग्य का बल होता है। क्योंकि वह अपने वस्तु-स्वरूप के अनुभव के लिए आत्म-स्वरूप में स्थिर होता है। ज्ञानशक्ति का कार्य जानन मात्र है। वैराग्यशक्ति का कार्य पर से भिन्न हो जाना है। यह इन दोनों शक्तियों की सामर्थ्य है कि कर्मों को भोक्ता हुआ भी ज्ञानी पुरुष कर्मों से नहीं बँधता है। जब तक कर्मों का आस्रव है, तब तक अपवित्रता है। इसलिये आत्मा की पवित्रता प्रकट करने के लिए आकांक्षा से मुँह मोड़कर ज्ञान-वैराग्य का सम्बल प्राप्त कर आत्म-स्वभाव के सन्मुख होने पर ही शौचधर्म होता है। पं. द्यानतरायजी कहते हैं—

धरि हिरदै सन्तोष, करहु तपस्या देह सौं।
शौच सदा निरदोष, धरम बड़ो संसार में॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

वद-समिदिपालणाए, दंडच्चाएण इंदियजएण।
परिणममाणस्स पुणो, संजमधम्मो हवे णियमा॥७६॥

व्रतसमितिपालनेन, दण्डत्यागेनेन्द्रियजयेन।
परिणममानस्य पुनः, संयमधर्मो भवेन्नियमात्॥७६॥

अर्थ—जो साधु व्रत-समिति का पालन करता है, मन-वचन-काय का निग्रह करता है एवं पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है, उसके ही नियम से संयमधर्म होता है।

भावार्थ—जो अपने स्वभाव से भ्रष्ट है, परमार्थ से उसके कोई नियम नहीं है। किन्तु जो अपने स्वभाव में गुप्त रहकर मौन रहता है, वही मुनि कहा जाता है। जो अपने शुद्ध स्वभाव को साधते हैं, वे साधु होते हैं। निज आत्म-स्वरूप में स्थिरता होने के कारण उनके संयमधर्म होता है। जो राग, द्वेष, मोह, आदि के संकल्प-विकल्पों से अपना उपयोग हटा कर निज स्वभाव में संयमित होते हैं, वास्तव में उनके संयमधर्म होता है। मन, वचन, काय को रोकना इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना, यह भी संयम है। लेकिन परमार्थ से संयमधर्म तभी है जब अपने स्वभाव में ही रहें, मर्यादा से बाहर नहीं जायें। अपने उपयोग को अपने में लगाना अन्तरंग संयम है। पाँचों व्रतों को पालना, पाँचों समितियों का आचरण करना, मन-वचन-काय तथा इन्द्रियों का निग्रह करना बाह्य संयम है। इसके दो भेद कहे गये हैं—प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम। इन दोनों प्रकार के संयमों में हिंसा का त्याग तथा इन्द्रिय-विषयों का निरोध गर्भित है। विषय-कषायों की रोक होने पर ही बाह्य संयम होता है जो अन्तरंग संयम का निमित्त होने से साधक या कारण कहा जाता है। वास्तव में मानव जीवन की सार्थकता संयम धारण करने में हैं। पं. बुधजन के शब्दों में—

जिय न्हान धोना तीर्थ जाना, धर्म नाहीं जप जपा।
तन नग्न रहना धर्म नाही, धर्म नाहीं तप तपा॥
वर धर्म निज आतम स्वभावी, ताहि बिन निष्फला।
'बुधजन' धरम निज धार लीना, तिनहिं कीना सब भला॥

पं. द्यानतरायजी कहते हैं—

काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्री मन वश करो।
संजम रतन सँभाल, विषय चोर बहु फिरत हैं॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

विसय-कसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए[1]।
जो भावइ अप्पाणं, तस्स तवं होदि णियमेण॥७७॥

विषयकषायविनिग्रहभावं कृत्वा ध्यानस्वाध्यायेन।
यो भावयत्यात्मानं तस्य तपः भवति नियमेन॥७७॥

अर्थ—जो विषय और कषाय भाव का निग्रह करके ध्यान तथा स्वाध्याय के द्वारा आत्मा की भावना भाता है, उसके नियम से तपधर्म होता है।

भावार्थ—विषय-कषायों को जीतने से तरह-तरह की इच्छाएँ रुक जाती हैं। रागादि भावों के रुकने पर समस्त इच्छाओं का त्याग हो जाता है। वास्तव में आत्मलीनता होने पर ही निर्विकल्प दशा वर्तती है। इसलिए तप की परिभाषा यही की गई है—समस्त रागादि पर-भाव रूप इच्छाओं के त्याग तथा अपने स्वरूप को जीतने का नाम तप है। जब तक आत्मस्वरूप में लीनता रूप तप नहीं है, तब तक बाहर में चाहे जितने कठोर, उग्र तप करने पर भी वे बाल (अज्ञानमूलक) तप कहे जाते हैं। वास्तव में शुद्धोपयोग रूप वीतराग भाव में ठहरना ही तप है। यह तप दो प्रकार का कहा गया है—अन्तरंग तप और बहिरंग तप। अन्तरंग तप के छह भेद हैं और बहिरंग तप के छह भेद हैं। इन सभी तपों में वीतराग भाव की प्रधानता है। वीतराग भाव के होने पर ही इन को तप कहा जाता है; अन्यथा नहीं। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दों में—"अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादि को तप कहा है, क्योंकि अनशनादि साधन से प्रायश्चित्तादि रूप प्रवर्तन करके वीतराग भाव रूप सत्य तप का पोषण किया जाता है, इसलिए उपचार से अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादि को तप कहा है। कोई वीतराग भाव रूप तप को न जाने और इन्हीं को तप जान कर संग्रह करे, तो संसार में ही भ्रमण करेगा। बहुत क्या? इतना समझ लेना कि निश्चय धर्म तो वीतराग भाव है, अन्य नाना विशेष बाह्य साधन की अपेक्षा उपचार से किये हैं, उनको व्यवहार मात्र धर्मसंज्ञा जानना।" संक्षेप में, भोजन छोड़ने का नाम उपवास नहीं है, किन्तु चारों तरह के आहार के साथ जहाँ विषय-कषाय का त्याग कर अपने में लीन रहना है, वहाँ वास्तविक उपवास है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि चैतन्य स्वभाव में निस्तरंग स्थिरता ही तप है। अतः आत्म—स्वभाव की स्थिरता ही तप है।

1. 'झाण संझाए' अ प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

णिव्वेगतियं भावइ, मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो, इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं॥७८॥

निर्वेदत्रिंक भावयति मोहं त्यक्त्वा सर्वद्रव्येषु।
यः तस्य भवेत्त्यागः इति भणितं जिनवरेन्द्रैः॥७८॥

अर्थ—जो समस्त पर द्रव्यों से मोह छोड़ कर उदासीन परिणामी होता है, उसके त्यागधर्म होता है—ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ—यथार्थ में किसी वस्तु को छोड़ने का नाम त्याग नहीं है, किन्तु उसके प्रति जो मेरापना या एकत्व बुद्धि है, उसे हटाना ही त्याग है। इसलिए आचार्य अकलंक कहते हैं—चेतन, अचेतन लक्षण वाले परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं। जो वास्तव में अपना है, उसका त्याग नहीं हो सकता। क्योंकि जो अपना ही है, उसका त्याग कैसे हो सकता है? इसी प्रकार जो अपना नहीं है, उसका भी त्याग कैसे किया जा सकता है? कारण यह है कि दूसरे की वस्तु को हम कैसे छोड़ सकते हैं? इसलिये यही समझना चाहिए कि त्याग में वस्तु मुख्य नहीं है, किन्तु भाव मुख्य हैं। जिस राग बुद्धि ने भावों में वस्तु को ग्रहण कर रखा है, उस एकत्व बुद्धि को छोड़ना त्याग है। एकत्व बुद्धि के छूटने पर वस्तु नियम से छूटती है। जिस-जिस से राग की बुद्धि हटती जाती है—वह स्थान, घर-द्वार, क्षेत्र, पति-पुत्र . . . पत्नी, धन, वैभव तथा सम्बन्धित छूटते जाते हैं। वास्तव में राग-द्वेष के त्याग का नाम त्याग है। कहा भी है—

उत्तम त्याग कह्यो जग सारा, औषधि-शास्त्र-अभय-आहारा।
निहचे राग-द्वेष निरवारे, ज्ञाता दोनों दान संभारे॥

लोक में व्यवहार और परमार्थ दोनों में त्याग से बढ़ कर कोई धर्म नहीं है। त्याग सबसे बड़ा आदर्श है। इससे बड़ा कोई आदर्श नहीं हो सकता। कहा भी है—

तन धन स्वजन नहीं हैं तेरे, नाहक नेह लगायो।
क्यों न तजै भ्रम चाख समामृत, जो नित संत सुहायो॥

—पं. दौलतराम

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

होऊण य णिस्संगो, णियभावं णिग्गहित्तु सुह-दुहद[1]।
णिद्वंदेण दु वट्टदि[2], अणयारो तस्स अकिंचण्हं।।७९।।

भूत्वा च निस्संगो, निजभावं निगृह्य सुखदुःखदम्।
निर्द्वन्द्वेन तु वर्तते, अनगारः तस्याकिंचन्यम्।।७९।।

अर्थ—जो मुनि समस्त परिग्रह को छोड़ कर, सुख-दुःख देने वाले कर्मजन्य निज परिणामों का निग्रह करके निर्द्वन्द्व रहता है, उसके आकिंचन्य धर्म होता है।

भावार्थ—तरह-तरह के जितने भी राग-द्वेष, मोह, आदि भाव हैं, वे कुछ भी आत्मा के नहीं हैं। आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है। किंचन माने कुछ और अकिंचन अर्थात् कुछ भी नहीं है। आत्मा के स्वभाव में किसी भी परभाव का अस्तित्व नहीं है। साधु निर्ग्रन्थ होता है। उसके कोई भी बाहर का परिग्रह नहीं होता। क्योंकि बाहर के मकान, खेत, आदि भीतर के परिग्रह में निमित कारण हैं। वास्तव में मिथ्यात्व, मोह, आदि को ग्रन्थ कहा गया है जो कर्मबन्ध के कारण हैं। भीतर का परिग्रह छूटने पर बाहर का परिग्रह नियम से छूट जाता है। अतः सभी तरह के भीतर-बाहर के परिग्रह को छोड़कर निज स्वभाव के साधन से ज्ञाता-द्रष्टा रूप पुरुषार्थ करके अधिक से अधिक समय तक निर्विकल्प रहने की जो साधना करता है, वही साधु है। जिसमें संकल्प-विकल्प का द्वन्द्व है, राग-द्वेष-मोह की उपाधि है, आकुलता-व्याकुलता से जो कर्म-जाल से पीड़ित है, संतप्त है, वह कैसा साधु है? जो सब तरह का कोलाहल छोड़ कर अपने स्वभाव में मौन नहीं रहता है, वह क्या मुनि है? मुनि तो निर्ग्रन्थ सुख-दुःख को जीत कर निश्चिन्त तथा निर्द्वन्द्व रहता है और ऐसे ही आत्मस्वभाव में गुप्त रहने वाले साधु के आकिंचन्यधर्म होता है। यथार्थ में ज्ञानी साधु के परिग्रह के भाव नहीं होते। कविवर भूधरदासजी के शब्दों में—

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपनो कोय।
घर सम्पत्ति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय।।

---

1. 'दुहड' ब प्रति।
2. 'वट्टइ' अ, ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(गाहा)

सव्वंगं पेच्छंतो, इत्थीणं तासु मुयदि रदिभाव[1]।
सो बम्हचेरभावं, सुक्कदि[2]खलु दुद्धरं धरदि[3] ॥८०॥

सर्वांगं पश्यन् स्त्रीणां तासु मुंचति रतिभावं।
स ब्रह्मचर्यभावं सुकृतिः खलु दुर्द्धरं धरति॥८०॥

अर्थ—जो स्त्रियों के सब अंगों को देखता हुआ अपने परिणामों में राग भाव नहीं करता, वह धर्मात्मा दुर्धर ब्रह्मचर्य का धारक होता है।

भावार्थ—वस्तुतः वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा ही स्वभाव है। विभाव से भिन्न बतलाने के लिए उसका निर्देश किया गया है। संसार-दशा में कर्मोदय की अपेक्षा विभाव को भी स्वभाव कहा जाता है। क्योंकि जीव राग-द्वेष भाव नहीं करे, तो संसार का जन्म कैसे हो? लेकिन वस्तुतः यह स्वभाव नहीं है। यदि कर्म की प्रकृति को अपना स्वभाव मान लिया जाए, तो कभी मोक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि स्वभाव न तो बदलता है और न बदला जा सकता है। अतः आत्मा ब्रह्म-स्वरूप है। ब्रह्म का अर्थ है—निज शुद्ध-बुद्ध, निरंजन, निर्मल, ज्ञान-स्वरूप आत्मा। ऐसे निज शुद्धात्मा में लीन होना ब्रह्मचर्य है। वास्तव में जिसने अपने स्वभाव को पहचान लिया है, वहीं उसमें स्थिर होकर जम सकता है, लीन हो सकता है। जो इन्द्रियों के विषयों में उलझता है, मन का गुलाम होकर विषय-कषाय का धंधा करता है, उसके ब्रह्मचर्य नहीं होता। जिसने अपने स्वरूप को जान लिया है, पहचान लिया है, वह बाहर में रागादिक भावों के निमित्त उपस्थित होने पर भी अपने परिणाम नहीं बिगाड़ता है। इसलिए अपने उपादान रूप वीतराग भाव को सम्हालने वाला ही ब्रह्मचर्य का पालन करता है। स्व. श्रीमद् रायचन्द्रजी के शब्दों में—

निरखीने नवयौवना, लेश न विषय निदान।
गणे काष्ठनी पूतली, ते भगवान समान॥

अतः यथार्थ में आत्म—स्वभाव में लीन होना ब्रम्हचर्य है।

---

1. 'दुब्भाव' प्रकाशित प्रतियों।
2. 'सक्कदि' ब प्रति।
3. 'धरिदुं' ब प्रति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com